अगस्त १९९४ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

आत्मभाव छूटे

जब तक आत्मभाव, अहंभाव, अस्मिताभाव बलवान है, तब तक मनोविकारों से सर्वथा विमुक्त नहीं हुआ जा सकता। जहां **मैं** की माया पनपती है, वहां **मेरे** का प्रपंच बढ़ता है। **मैं-मेरे** यानि अहंकार, ममंकार की मोह-मूढ़ता भरी अविद्या के धरातल पर ही राग और द्वेष की विष-बेल जनमती और फलती-फूलती है। जो **मैं-मेरे** को प्रिय लगता है, उसके प्रति आकर्षण होता है, उसके प्रति आसक्ति बढ़ती है। इसी आसक्ति के आधार पर प्रिय को प्राप्त करने की और प्राप्त हुआ हो तो उसे कायम रखने की रागमयी तृष्णा जागती है। इसी प्रकार जो **मैं-मेरे** को अप्रिय लगता है, उसके प्रति विकर्षण जागता है। उससे संयोग न हो और यदि हो गया हो तो उसे शीघ्र से शीघ्र दूर करने की द्वेषमयी तृष्णा जागती है। तृष्णा रूपी सिक्के के ही यह दो पहलू हैं जो कि राग और द्वेष के रूप में प्रकट होते हैं। तृष्णा तृष्णा है, चाहे वह रागमूलक हो या द्वेषमूलक। जहां तृष्णा है वहां **मैं-मेरे** की आत्मभावमयी अविद्या होगी ही। आत्मभाव की अविद्या और तृष्णा रूपी प्रतिक्रिया जहां है वहां काम, क्रोध, मद, लोभ, घृणा, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि-आदि विकारों का प्रजनन होता जायेगा। भवबंधन दृढ़ होता जायेगा, भवसंसरण चलायमान होता जायेगा। इस भवसंसरण के मूल में आत्मभाव की अविद्या का विष-बीज है। इसका निष्कासन किए बिना भवमुक्ति नहीं।

सामान्यतया हमें **मैं** के प्रति बड़ी आसक्ति होती है। जिसके प्रति आसक्ति होती है, उसे नष्ट नहीं होने देना चाहते। बाकी सारा संसार भले नष्ट हो तो हो, परंतु यह **मैं** कहीं नष्ट न हो जाय। अतः **मैं** के रूप में अपने भीतर एक अलग-थलग आत्मा की कल्पना करते हैं। इसी आधार पर एक दार्शनिक मान्यता की स्थापना होती है कि यह **मैं** रूपी आत्मा नित्य, शाश्वत, ध्रुव है; अजर-अमर है, सदा एक जैसी बनी रहने वाली है। शरीर नष्ट होते रहते हैं, बदलते रहते हैं, हर मृत्यु पर नया शरीर प्राप्त होता रहता है, परंतु आत्मा ज्यों की त्यों बनी रहती है। यह मान्यता हमें बहुत प्रिय लगती है। अतः इस मान्यता के प्रति आसक्त होते हैं। यह आसक्ति वस्तुतः सूक्ष्म स्तर पर हमारे अहंभाव का पृष्टपोषण करती रहती है।

विपश्यना हमें सभी काल्पनिक मान्यताओं से दूर रखती है। अपने बारे में जो सच्चाई है, उसका अनुभूति के स्तर पर वैज्ञानिक विश्लेषण करना सिखाती है। यथाभूत दर्शन-ज्ञान द्वारा सत्य का अनुसंधान करना सिखाती है। यथाभूत दर्शन यानि अपने भीतर, अपने बारे में प्रतिक्षण जो सच्चाई प्रकट हो, उसका दर्शन यानि अनुभवन। यही है सत्य दर्शन। यही है सम्यक दर्शन। इस सत्यानुभवन से जो ज्ञान प्रकट होता है वह है यथाभूत ज्ञान याने सम्यक ज्ञान। जैसे-जैसे विपश्यना गहराइयों में उतरती है वैसे-वैसे स्थूल सच्चाइयों से सूक्ष्म सच्चाइयों की ओर बढ़ती जाती है। एक विपश्यी साधक सच्चाई का साथ कभी नहीं छोड़ता। किसी भी अनुभूति पर कोई कल्पनाजन्य दार्शनिक मान्यता आरोपित नहीं करता। शरीर और चित्त की जो-जो अनित्यधर्मा सच्चाईयां अपनी अनुभूति पर उतरती है, उन्हें यथाभूत स्वीकार करता है। उन्हें काल्पनिक नित्यता का जामा नहीं पहनाता। यों शरीर और चित्त की सच्चाइयों का विघटन-विभाजन और विश्लेषण करता हुआ देखता है कि यह सारा का सारा क्षेत्र न **मैं** है, न **मेरा** है, न **मेरी आत्मा** है; न नित्य है, न ध्रुव है, न शाश्वत है। अनित्यधर्मा ही अनित्यधर्मा है। जैसे प्याज या केले के पेड़ के छिलके उतारते-उतारते इनके भीतर तक कहीं कोई सार नहीं पाया जाता, वैसे ही शरीर के परमाणु-पुंजों के पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु महाभूतों के स्वभाव को अलग-अलग करके अनुभव करता हुआ और इसी प्रकार चित्त के विज्ञान, संज्ञा, वेदना और संस्कार के स्वभाव को अलग-अलग कर के अनुभव करता हुआ देखता है कि इनके भीतर तक कहीं कोई सार नहीं है। जब तक यह अनुभूतिजन्य वैज्ञानिक विश्लेषण चलता है, तब तक उस पर न आत्मवाद की और न ही नैरात्मवाद की मान्यता का आरोपण करता है। मान्यता का स्थान जान्यता ले लेती है। यथाभूत दर्शन करते-करते यथाभूत ज्ञान जागता है तो देखता है कि इस सम्यक दर्शन-ज्ञान से गहराइयों तक समता पुष्ट होते हुए वैज्ञानिक और नैसर्गिक ढंग से कर्मों की निर्जरा होती है तथा राग, द्वेष और मोहरूपी अविद्या के विष दूर होते हैं। यों धीरज के साथ स्वयं अपने आप का निरीक्षण करते हुए देखता है कि निरीक्षण करने वाला भी मानस का ही एक हिस्सा है जिसे विज्ञान कहते हैं। स्वानुभव से जान लेता है कि विज्ञान भी नित्य नहीं है। उदय-व्यय स्वभाव वाला है। यों निरीक्षण-परीक्षण करते हुए शरीर और चित्त के परे की इंद्रियातीत निर्वाणिक अनुभूति हो जाती है। उस नित्य, शाश्वत, अनंत, असीम अवस्था में कोई ससीम **मैं-मेरा** नहीं रहता। अहंकार-ममंकार नहीं रहता। कोई अलग-थलग व्यक्ति नहीं रहता। इस प्रकार काल्पनिक आत्मभाव का, अहंभाव का स्वतः निर्मूलन होता है, जिससे भवचक्र टूटता है। ऐसा विमुक्त हुआ व्यक्ति व्यवहार जगत में **मैं-मेरे** शब्द का उपयोग भले करे, परंतु वास्तविकता के स्तर पर इस भ्रम-भ्रांति से विमुक्त रहता है।

आओ साधको, आत्मवाद के या नैरात्मवाद के दार्शनिक मान्यता के धरातल से हट कर यथाभूत अनुभूति की जान्यता के आधार पर जानें कि अपने बारे में वास्तविकता क्या है? और इसे जान कर अपना मंगल साध लें, कल्याण साध लें!

कल्याण मित्र,
स. ना. गो.

हेरनहार हिरान

– ब्रजेन्द्रप्रसाद पालीवाल, (वरिष्ठ स. आ.)

रहीम ने एक सोरठे की रचना की –

बिंदु में सिंधु समान, को कासों अचरज कहै।
हेरनहार हिरान, रहिमन आपुहि आप में॥

साहित्यिक जगत में इसके भाव एवं शब्दों के अनेक-अर्थी प्रयोगों की भूरि-भूरि प्रशंसा हुई। आज भी लोग इसकी काव्यमाधुरी का रस पीते नहीं अघाते।

निश्चय ही किसी सूफी संत की वाणी में प्रखर हुए इन उद्गारों को ललित काव्य की मनोहारी शैली में प्रस्तुत करने में रहीम कुछ अधिक ही सफल हुए हैं। हो सकता है रहीम के मानस की गहराइयों में पड़े हुए अनुशय संस्कार किसी कारणवश स्वयं इन पंक्तियों में अभिव्यक्त हुए हों।

पहले हम इन शब्दों से ही परिचित हो लें – हेर, हेरनहार, हिरान। बुन्देलखण्डी बोली में **हेर** के अर्थ हैं – देख, खोज, जांच, परख। **हेरनहार** – द्रष्टा, खोजी, अन्वेषक, शोधक एवं आज के परिवेश में कहें तो विपश्यना-साधक। किन्तु इसी कड़ी से संबंधित होते हुए भी **हिरान** का अर्थ खोजने का उल्टा है यानि –'खो गया', 'छिप गया', 'लुप्त हो गया', 'विलीन हो गया', 'अदृश्य हो गया', 'ओझल हो गया' आदि आदि।

हिंदी के मर्मज्ञ रहीम के इस सोरठे का अर्थ समझ लेते हैं। पर हो सकता है किसी अन्य को कठिनाई हो तो समझें। रहीम कवि कहते हैं – कोई इस अचरज (आश्चर्यजनक) की बात को किसी से कहे भी, तो कैसे कहे? और कहने की हिम्मत भी करे तो कौन मानेगा? कौन विश्वास करेगा? कौन स्वीकार करेगा उसकी बात को? लोग कहेंगे लबार(झूठा) है, गप्पी है, बेपर की उड़ाता है, पागल है।

पर भाई क्या करूं मैं? यह बात पेट में पच भी तो नहीं रही। बार-बार बाहर निकलना चाहती है। दबाए दब नहीं रही।

तो धीरे से कहता है – सुना तुमने, बड़ी चर्चा है शहर में इस बात की। वह नीम-पागल अब्दुल्ला था न? वह स्वयं को खोजने का ख़फ्ती (जिज्ञाशु), खुद की खुदी को जानने की सनक में नादान किसी तरह अपने भीतर उतर गया और बहुत खोजा वहां अपनी खुदी को। शुक्र है उसने खुदा को ढूंढ़ने का कुफ्र नहीं किया। अब कहता फिरता है –"अब्दुल्ला की **मैं, मैं** को खोजने अपने ही भीतर उतर गई। उतरती चली गई, उतरती चली गई। वहां देखा, भाला, आवाजें दीं, पूछने को वहां कोई था नहीं, **मैं** भी नहीं। **मैं** ही खो गई वहां जाकर। अब यहां बाहर भी देखता है – इंसान हैं, हैवान हैं, दरिंदे हैं, परिंदे हैं, पर **मैं** यहां भी नहीं दिखती। अब खोजता फिरता है नालायक अपनी **मैं** को। लेकिन भाई, है बहुत खुश। कहता है चलो छुट्टी हुई। इस **मैं** ने बड़ी दिक्कत कर रखी थी। खो गई अच्छा हुआ। जो खोजने गया था **मैं** को उसका ही पता नहीं। अब तो अब्दुल्ला भी नहीं रहा....। है न पागल। लेकिन बात हमारी समझ में नहीं आ रही। जैसे कोई कहदे – समंदर बूंद में समा गया। **मैं** का खोजने वाला ही खो गया। अपनी **मैं** भी गँवा बैठा। हैरत की बात है। बूंद में समुद्र के समाने जैसी, गागर में सागर समेटने जैसी बात।

काव्य, शायरी, अमूर्त्त चित्र, रेखाएं आदि इस प्रकार की ललित कलाएं हैं, इनमें अपने-अपने ज्ञान, कौशल, शिक्षा, दीक्षा आदि की निपुणता, अनुभूति आदि के अनुपात से इनमें पैठ कर रसिक लोग भांति-भांति से इनका आनंद लेते रहते हैं। ये समय विशेष की सीमा में श्रेण्य, क्लासिक या अमर कृतियों, रचनाओं की ख्याति प्राप्ति करके दीर्घकाल तक समाज एवं इतिहास में अपना स्थान बनाए रहती हैं। रहीम खानखाना का उपरोक्त सोरठा भी इसी श्रेणी में स्थान पा गया है। अपनी समझ, विवेक, ज्ञान एवं अनुभव के अनुरूप लोग इसके अर्थों पर टीका, टिप्पणी करते रहते हैं।

पूज्य गुरुदेव गोयन्काजी ने अपने प्रवचनों में चर्चित करके नानक, कबीर, नरसी सरीखे संतों की वाणियों को गौरव प्रदान किया है। बेशक, रहीम साधु-संत नहीं थे, पर उनकी उपरोक्त रचना विपश्यना साधना के प्रमुख घटक 'तिलक्खण' (त्रिलक्षण) के विशेष उपांग – 'अनत्त' की ओर केवल इंगित ही नहीं करती, अपितु काफी दूर तक इसका विवेचन भी करती है। इसकी सांगोपांग टीका तो कभी मौज में आकर पूज्य गुरुदेव ही करेंगे, तभी रहीम के इस सोरठे का पूर्णरूपेण मूल्यांकन हो सकेगा। तब तक विपश्यना के गंभीर कर्मठ साधक इस विषय को अपने **धम्मविचय** बोध्यांग के अतरंगत स्थान दें तो कैसा रहे? धम्मविचय (चिंतन-मनन) ही है न, इससे हानि होने की तो संभावना नहीं लगती।

इन पंक्तियों के लेखक के पीछे यह आलंबन ध्यान में इच्छा-अनिच्छा से यदा कदा प्रवेश पाता रहा। परिणाम स्वरूप इस निम्नलिखित लघु नाटिका का प्रादुर्भाव हो चला। इसके कुछ अंश स्ववेदन के परिणाम हैं लेकिन अधिकांश को कल्पना प्रेरित ही कहा जायेगा। जो भी है, कुछ इस प्रकार है: –

विपश्यना से उपलब्ध लाभों की लम्बी सूची से प्रभावित होकर एक सद्गृहस्थ अपने मित्र की बातों में आगया – चला आया विपश्यना का दस दिन का शिविर करने। शाम के प्रवचनों में इस बात पर ज़ोर दिया गया कि विपश्यना आत्म निरीक्षण या **स्वयं** की खोज अथवा **मैं** के खोज की साधना है।

वह नया-नया साधक, मन ही मन कहता –अरे **मैं** की क्या खोज होगी भला? और इसकी जरूरत भी क्या है? **मैं** तो इतनी स्पष्ट बात है – मैं हूं ही; मेरा मन, मेरा पति, मेरी पत्नी, पुत्र, पुत्री, धन-धान्य, मान-प्रतिष्ठा सभी कुछ मेरा। कहीं ये लोग आत्मा को तो **मैं** नहीं कहते? तब तो बहुत बड़ी बात है – आत्मा और परमात्मा। परमात्मा का अर्थ बड़ी आत्मा। ठीक ही तो है, मेरी आत्मा छोटी आत्मा तथा परमात्मा बहुत बड़ी आत्मा। इन दोनों के मिलन को ही मोक्ष, ब्रह्मलीन स्थिति कहा गया है। यदि ऐसा है तो यह बड़ी अच्छी साधना हाथ लग रही है। करूं इससे अपनी आत्मा की खोज। अरे आत्मा मिल जाय। किसी तरह उसका दर्शन हो जाय, तो परमात्मा का दर्शन भी सहज हो जायगा। कल्याण हो जायेगा। पहले आत्मा का दर्शन तो हो जाय।

पर बेचारा तीसरे-चौथे दिन से पड़ गया संवेदनाओं के चक्कर में। आनापान द्वारा समाधि इतनी पुष्ट हो गई थी कि मन को शरीर के जिस किसी अंग पर ले जाता वहीं, स्थूल या सूक्ष्म संवेदना पा ही जाता था। स्थूल-स्थूल दुखद संवेदनाओं से शुरू-शुरू में घबराया। अरे इतनी गर्मी है, और इन्होंने हॉल के पंखे भी बंद कर रखे हैं। पसीना आया, बहुत गर्मी लगी, पैरों में, कमर में पीड़ा –क्या करता बेचारा? आत्मा के दर्शन के लालच में सारे जुल्म सहे। धीरे-धीरे शाम के प्रवचनों से बात समझ में आती जाती। था जीवट वाला, अभ्यास चालू रखा। धर्म-पथ पर उसकी यात्रा लक्ष्य की ओर अग्रसर हो रही थी।

अब प्रकृति के रहस्य खुलते जा रहे थे, सुलझते जा रहे थे। सिर से पांव तक, पांव से सिर तक निरंतर चक्कर लगाता रहता। शनैः-शनैः स्थूल संवेदनाओं का स्थान सूक्ष्म संवेदनाएं लेती जा रही थीं। कभी-कभी सामूहिक बैठकों के दौरान पूज्य आचार्यश्री का प्रेरणात्मक उद्‌बोधक घोष सुनाई पड़ता – अनिच्च, अनिच्च। सचमुच ये संवेदनाएं अनित्य हैं। उत्पन्न हुइर्, कुछ देर चलीं, समाप्त हुइर। और सूक्ष्म संवेदनाएं तो उत्पन्न होते ही शीघ्रता से नष्ट हो जाती हैं। और आगे – दुःख है, दुःख है; इसको समझा भी और प्रत्यक्ष अनुभव भी किया। दुखद सवेदनाएं तो दुःख हैं ही, ये सुखद, सूक्ष्म भी दुःख ही हैं। क्योंकि समाप्त हो जाने पर, इनका न होना बड़ा दुःखद लगता है।

और आगे बढ़ता है। स्थूल संवेदनाओं का दौर समाप्त हो चला है। सूक्ष्म तरंगों की अनुभूति पूरे शरीर में होने लगी। प्रवचन में सुनी भगवान की वाणी **-फुस्स फुस्स वयं पस्सं**। 'फुस्स' बताया गया हिंदी का स्पर्श। साधना काल में जहां मन गया, शरीर के किसी स्थान पर उसका शरीर से स्पर्श होते ही संवेदना महसूस हुइर्। महसूस भी नहीं हो पाई ठीक से कि समाप्त हो गई। स्पर्श होते ही समाप्त। तरंग की उत्पत्ति जान भी नहीं पाया कि तत्काल बैठ गई। इतनी शीघ्रता से यह सारा प्रपंच चल रहा है जैसे फुलझड़ी से निकलते स्फुलिंग। बस 'भंग' ही होता प्रतीत होता है। भंग, भंग। पूरे शरीर में निरंतर, अहर्निश यही क्रिया स्वयमेव होती जान पड़ती है। हाथ-पैर, नाक-कान का कोई भेद नहीं। भीतर भी मन सामने से पीछे, इस ओर से उस ओर निर्बाध गति से जैसे बुद-बुदों में से, स्फुलिंगों में से, तरंगों में से, कोहरे में से होकर सुगमता से निकल जाता है। ये ही हैं भगवान बुद्ध के बताए अष्ट-कलाप, ये परमाणु तीव्र गति से उत्पन्न होते जा रहे हैं, नष्ट होते जा रहे हैं। तो यही है इस शरीर की, रूप की अंतिम रचना, इसका अंतिम सत्य।

और यह शरीर के बनने-बिगड़ने का खेल 'आपो आप', अपने आप, खुद ब खुद अनवरत होता जा रहा है। इस शरीर पर मेरा कोई अधिकार नहीं, यह मेरे वशवर्ती नहीं। न मेरे कहने से चलते हैं, न मेरे कहने से रुकते हैं। यही शरीर है, जिसको मैं अज्ञानवश **मैं-मेरा** कहे जा रहा हूं। क्या है इसमें **मैं** ? क्या है **मेरा** इसमें? निस्सार, नश्वर, अनित्य, क्षण-क्षण भंगुर।

इसलिए पूज्य गुरुदेव अपने संध्याकालीन प्रवचनों में बार-बार समझाते हैं इस धर्म के तीसरे लक्षण को अनत्त, अनत्त। यह मेरा अपनत्व नहीं हैं, अपना पा नहीं हैं, आत्म, आत्मा नहीं हैं! लो, हो गया फैसला। और ठीक ही है, कहीं आत्मा नाम की कोई वस्तु नहीं मिली भीतर। अरे, आत्मा शक्ति-स्वरूप होती है तो इन तरंगों में ही कहीं होती। ये तो उत्पन्न होती हैं और नष्ट हो जाती हैं। तो क्या जो आत्मा होती है, वह भी नष्ट हो जाती है? पर आत्मा तो अजर, अमर बताई जाती थी। अरे, मैंने व्यर्थ का भ्रम पाल रखा था। वास्तव में इस शरीर में 'मेरा' कहने के लायक तो कुछ है ही नहीं। प्रकृति के कतिपय नियमों के अंतर्गत, कारण-परिणाम के अधीन यह शरीर भी कार्य करता है। ऐसा करने को विवश है। यह 'मेरा' नहीं, यह 'मैं' नहीं। ये दोनों बातें यहां ढूंढने पर भी नहीं मिलतीं। मेरा कोई अस्तित्व है ही नहीं इनमें। यह सब चार महाभूतों का बना है और उनके परमाणु ही बनते-बिगड़ते रहते हैं। इनको अपना मानकर व्यर्थ ही दुःख भोगता रहा हूं।

इन सुखद संवेदनाओं के कारण सुख का कुछ आभास होता है। और ये संवेदनाएं तो, "ये आइर और ये गइर।" उनके साथ सुख भी गया। और अपने जाने के साथ उसकी याद का रोना हमें छोड़ गया। अतः सुख भी अंततः दुःख ही है। भगवान बुद्ध ने इसलिए ही कहा –"अनित्य, दुःख इनका रहस्य जानकर, अनुभव पर उतार कर दुःख से मुक्त हो जाओ।

शरीर तो जीवन प्रक्रिया का एक पक्ष ठहरा। दूसरा पक्ष मन है जो आगे-आगे नाचता रहता है तथा मुझे भी नचाता रहता है। **'मनो पुब्बङ्गमा धम्मा, मनो सेट्ठा मनोमया'** । यह मन का पक्ष ही प्रमुख है। मन की धारा और शरीर की धारा, इन दोनों धाराओं की साठ-गांठ ही जीवन-धारा है। मन की तरंगें शरीर की तरंगों से सत्रह गुना अधिक गति शील हैं। यह तो और भी अनित्य अस्थिर हैं। इसके चार अंग – विज्ञान, संज्ञा, वेदना, संस्कार। इनको ठीक-ठीक समझने में और अधिक समय लगता है। अपनी अनुभूति के आधार पर इनको ठीक-ठीक जानना है।

लेकिन रहीम की परेशानी का कारण तो साधक ने जल्दी ही समझ लिया। शरीर को, चित्त को तथा इन दोनों की मिली जुली जीवन धारा से वह जो **मैं-मेरे** का भ्रम पालता रहा है, कालांतर में विपश्यना के अभ्यास से उसकी धज्जियां उड़ जाती हैं। वास्तव में उस अब्दुल्ला की विपश्यना विगत जन्मों के संस्कारोंवश (अभ्यासवश) जाग उठी और वह **मैं** की खोज में उतर गया अपने अचेतन मन में। वहां संवेदनाओं के प्रति, उस पागल चित्त के प्रमुख विशाल भाग को, अचेतन मन को मूढ़ प्रतिक्रिया करते पाकर वह उसको सुधारने में लग गया। उसे राग-द्वेष से छुड़ाकर, उन संवेदनाओं के प्रति सुख-दुःख की अंध-प्रक्रिया की आदत से उसे मुक्त कराकर उसको समता का पाठ पढ़ाया होगा।

यह सब तो हुआ। उपरोक्त चर्चित विवरण के अनुसार त्रिलक्षण के आधार पर उसकी प्रज्ञा पुष्ट हुई तो **मैं-मेरे** की भ्रांति दूर हुई, वे तिरोहित हो गइर्, खो गइर्। तो यद्यपि अब्दुल्ला की खुशी का ठिकाना न था, उसने लोगों को धर्म-मार्ग पर लाने के लिए 'मैं' के खोजने का संदेश अपने ढंग से लोगों में फैलाया। वह सम्यक सम्बुद्ध तो था नहीं जो लोगों को विपश्यना सिखा सकता।

उक्त सोरठे का आशय समझने के लिए संक्षेप में एक बार विपश्यना प्रक्रिया एवं उसके अभ्यास की विधि को दुहरा लें। साधक ने शरीर का बाहर-भीतर सारा कोना-कोना छान मारा, पर उसे **मैं-मेरा** कहीं नहीं मिला। पूरा शरीर केवल परमाणुओं की बनती-बिगड़ती राशि का पुंज। वहां हर कार्य स्वाभाविक गति से स्वयमेव चलता पाया। बाहर आया ध्यान में से तो सब ओर यहां भी वही उत्पत्ति-विनाश लीला संसार में सर्वत्र होती पाई। जो भीतर सो बाहर। भीतर जाते समय **मैं-मेरे** को लेकर गया, वह भी वहीं कहीं गवां आया। तो चिल्लाता है –मेरा **मैं** खो गया। लोग क्या समझते?

कहने लगे बड़ा आश्चर्य हुआ, खोजने वाला ही जो अपने को **मैं** कहता था, खो गया। अरे वर्षा की बूंद को तो समुद्र में समाकर खो जाती देखी है। खोजने वाला खोई वस्तु को न ढूंढ़ सके, यह तो मान लेने की बात है, लेकिन यह कहता है कि खोजने वाला भी उसे तलाश करते-करते स्वयं ही लापता हो गया। निस्संदेह बड़ा ही आश्चर्य हुआ, यह तो जैसे सागर ही बूंद में समा गया, समा जाय। असंभव संभव हो गया। महान आश्चर्य। कौन कैसे विश्वास करे अब्दुल्ला की इस बात पर? लेकिन यह तो ताल ठोक कर इस बात को सरे आम कहता है। उसके हाव-भाव से लगता है यह झूठ भी नहीं कह रहा। आश्चर्य, महान आश्चर्य।

धर्म-कथा सारे प्रश्नों का, शंकाओं का समाधान कर देती है, उनका उन्मूलन कर देती है। लेकिन यह तभी होता है जब कोई कथा सुनकर उस धर्म-मार्ग पर चले। रहीम खानखाना को भी, अचरज से बाहर निकालकर –'हेरनहार के हिराने' के सत्य को परखने के साधन, **"विपश्यना"** ध्यान के अभ्यास करने का अवसर मिल जाता तो उसको समाधान मिल जाता। उस समय भारत में यह साधना उपलब्ध नहीं थी। किन्तु हमने तो भगवान के शब्द पढ़े हैं, सुने हैं –

दुक्खमेव हि, न कोचि दुक्खितो,
कारको न, किरिया व विज्जति।
अत्थि निब्बुति, न निब्बुतो पुमा,
मग्गमत्थि, गमको न विज्जति॥

अर्थात –दुःख ही है, कोई दुःख भोगने वाला नहीं है। कर्त्ता नहीं है, क्रिया ही है। निर्वाण है, निर्वाण को प्राप्त 'व्यक्ति' नहीं है। मार्ग है, मार्ग पर जाने वाला 'पथिक' नहीं है।

ये शब्द उपरोक्त सोरठे से भी अधिक आश्चर्यमय हैं, किन्तु अरहंत को तो ये हथेली पर रखे आंवले के फल की भांति स्पष्ट हो जाते हैं।